



ISSN Print: 2394-7500  
 ISSN Online: 2394-5869  
 Impact Factor: 5.2  
 IJAR 2016; 2(1): 259-261  
[www.allresearchjournal.com](http://www.allresearchjournal.com)  
 Received: 16-11-2015  
 Accepted: 18-12-2015

## ललित कुमार झा

इतिहास शिक्षक, डी० ए०. वी०  
 पब्लिक स्कूल, चूनाभट्टी, दरभंगा,  
 बिहार, भारत

## मानव सभ्यता के विकास में लौह उपयोग का योगदान: एक ऐतिहासिक अध्ययन

ललित कुमार झा

### सारांश

मानव सभ्यता के विकास में लौह उपयोग का बहुत बड़ा योगदान रहा है। पुरातात्विक खोजों से अबतक का जो प्रमाण मिला है उससे यही संकेतित है कि प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० 50 के प्रथमार्द्ध में इस अत्यन्त ही उपयोगी धातु की तकनीक गंगा के विभाजित मैदान तथा इसके उच्च तटवर्ती क्षेत्र में विकसित थी। इन दोनों ही क्षेत्रों में जिस तरह की सामाजिक-आर्थिक संरचना दीखती है उसकी पृष्ठभूमि चित्रित घूसर मृदमाण्ड (पी० जी० वेयर) अर्थात् प्रथम लौह काल से सम्बद्ध कही जा सकती है। पुराविदों की राय में इस कालखण्ड में प्रायः जहाँ जैसी मानवीय बस्तियाँ आबाद हुईं उनका सीधा या प्रत्यक्ष सम्पर्क चित्रित घूसर भाण्ड वाली संस्कृति से था। भारतीय उपमहाद्वीप में इसका प्रसार क्षेत्र बहुत ही व्यापक एवं विस्तार वाला है। उत्खनन आधारित साक्ष्य के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पाकिस्तान का बहावलपुर क्षेत्र पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के सीमान्त क्षेत्र इसी संस्कृति की परिधि में आते थे। ऐसा नहीं कि इस संस्कृति के विकास की अवधि छोटी थी बल्कि कहना यह चाहिये कि तीन शताब्दी या इससे कुछ अधिक कालखण्ड तक इसका अस्तित्व कायम रहा। यही वही क्षेत्र है जहाँ कभी इतिहास प्रसिद्ध भद्रों, कुरु पांचालों, शूरसेनों और मत्स्यों के आधिपत्य का परचम लहराया करता था। कथन का यह अभिप्राय भी नहीं कि चित्रित घूसर भाण्ड वाली संस्कृति का उन्मेष केवल इन्हीं क्षेत्रों में हुआ और देश के अन्य भाग इससे अछूते रहे। यह वास्तविकता है कि लगभग 1000 ई० पू० से उत्तरी भारत में नये प्रकार के भाण्ड सीधे तौर पर प्रयोग में आने लगे थे। मानव बस्तियों के साथ पी० जी० वेयर जैसे भाण्ड का सम्बन्ध बहुत घना दीखता है। अबतक 700 से भी अधिक स्थलों का सम्बन्ध इस सांस्कृतिक महत्त्व के भाण्ड के साथ प्रमाणित हो चुका है। प्रस्तुत पत्र में मानव सभ्यता के विकास में लौह उपयोग के योगदान पर चर्चा की गई है।

**मुख्य शब्द:** मानव सभ्यता, लौह उपयोग, लौह तकनीक, भौतिक विकास, कृषि कार्य

### प्रस्तावना

उत्खनन चाहे वह छोटे या बड़े पैमाने पर ही क्यों न किया गया हो इतना तो प्रमाणित कर ही देता है कि चित्रित घूसर भाण्ड वाली संस्कृति देश के चाहे किसी भी भाग में क्यों न पनपी हो वहाँ उसका घनत्व काफी मोटा था। चूंकि कृषि जीवन की प्रधानता रही इसीलिए जमीन से जुड़े रहने की प्रवृत्ति का हटाव लोप नहीं हो सकता था। लकड़ी के बने फाल से भूमि का कर्षण हो रहा था। कृषिजीवी समुदाय में ऋतु चक्र के ज्ञान की प्रधानता रही अतः कृषि उत्तरोत्तर लाभदायी रही। वास्तव में ग्रामीण अर्थव्यवस्था जहाँ तक विकसित हुई थी उससे सम्बन्धित साक्ष्यों की कमी नहीं है। अथर्ववेद और ब्राह्मण साहित्य में कृषि के निमित्त जितने तरह के आनुष्ठानिक कृत्य वर्णित हैं उनका एक खास तरह का महत्त्व है। इससे एक ऐसे सांस्कृतिक परिवर्तन का भी साक्ष्य कहना होगा जब पशुचारी समाज उत्तरोत्तर कृषि की ओर उन्मुख हुआ जा रहा था। इसी से स्थायी बस्तियों के बसने का मार्ग भी प्रशस्त हुआ। यह याद रखने वाली बात है कि ऋग्वेद के मध्य भाग में वर्णित समाज मूलतः पशुचारी था जो उत्तर वैदिक काल तक आते-आते एक ऐसी संस्कृति से जुड़ा जिसका मूलाधार लौह तकनीक पर टिका था। यह लौह पुरातत्व के आरम्भ का प्रथम चरण था। ऐसे साक्ष्य बहुतेरे हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि लोगों की रुचि कृषि कर्म में बहुत तेजी से बढ़ रही थी। हमारे कथन का अभिप्राय यह कि वैदिक साहित्य में जिस तरह का समाज वर्णित है वह चित्रित घूसर भाण्ड वाली संस्कृति अर्थात् लौह तकनीक के माध्यम से अपना भौतिक विकास करने वाले लोगों से बहुत भिन्न नहीं है। यह एक ऐसी अवस्था का भी सूचक है जब धान और दूसरे प्रकार के अनाज की खेती भरण-पोषण के योग्य तो थी ही इससे कृषकों को अधिशेष भी प्राप्त होने लगा था। खेती के काम में उच्च तकनीक के प्रयोग से उत्पादन बढ़ा और यह एक साथ प्रोहितों, कर्मचारियों एवं राजाओं के भरण पोषण के भार को वहन करने में सफल रहा।

### Corresponding Author:

#### ललित कुमार झा

इतिहास शिक्षक, डी० ए०. वी०  
 पब्लिक स्कूल, चूनाभट्टी, दरभंगा,  
 बिहार, भारत

उपर्युक्त कालावधि में भौतिक विकास के लिए लौह तकनीक को जहाँ ज्यादा महत्त्व दिया गया वहीं उसमें निरन्तर निखार लाने के प्रयासों में भी तेजी दिखायी दे रही थी। पुरातत्त्व यह स्पष्ट करता है कि भारत के उत्तर पश्चिमी भाग में लोहा प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० में अपनी पहचान बनाने की ओर अग्रसर था। स्वात तथा गोमल घाटी में इसके प्रयोग में आते रहने का प्रमाण मिलता है। इसी तरह गंगा के उच्च तटवर्ती क्षेत्र में भी लगभग 1000 ई० पू० या कुछ थोड़ा बाद लौह तकनीक के अस्तित्व में आते रहने की बात प्रमाणित होती है। लोहे के उपकरण पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त राजस्थान से भी मिले हैं।<sup>12</sup> हमारे पास यह कहने का पर्याप्त आधार है कि उत्तर भारत के मैदानी क्षेत्र में लोहे का प्रचलन 1000 ई० पू० के बाद ही हुआ था। उत्तर वैदिक काल के ग्रन्थों में इस धातु के प्रायः जितने भी नाम मिलते हैं उनकी सगति इन सदियों से सम्बद्ध अवशेषों के साथ वनी हुई है। गंगा के उच्च तटवर्ती क्षेत्र तथा उसके पास बालाकोट, अतिरंजीखेड़ा और दूसरे उत्खनित स्थलों से मिले साक्ष्य यही संकेत करते हैं कि पहली सहस्राब्दी के प्रथमाब्द में भी यहाँ लौह उपकरणों की संख्या उतनी ही बढ़ी थी जितनी कि इसी सहस्राब्दी के द्वितीयाब्द में यह मध्यवर्ती गंगा के मैदानी क्षेत्र में थी। यह भौगोलिक अनुकूलता रही कि लौह उपकरण संरक्षित रह पाये। ऐसा इसीलिए कि मिट्टी क्षाराद बलुआही और अपेक्षाकृत शुष्क थी। यह प्रमाणित करना हो तो मेहरोली के लौह स्तम्भ को बिहार या बंगाल के मैदानी क्षेत्र में स्थापित करके देखा जा सकता है। यह आज जहाँ स्थापित है वहाँ से हटाकर यदि इसे बिहार या बंगाल के मैदानी क्षेत्र में स्थापित कर दिया जाये तो इसके क्षरण में ज्यादा समय नहीं लगेगा। यह वैज्ञानिक कारण है कि मिट्टी – पानी की आर्द्रता लौह उपकरणों के लिए बहुत ही प्रतिकूल पड़ती है। इसके ठीक उलट शुष्क जलवायु में इसे लम्बी अवधि तक सुरक्षित देखा जा सकता है। प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वाब्द में लौह प्रयोग के संकेत मिलते रहने का अर्थ यह नहीं कि इसका उत्पादन बहुत ज्यादा होने लगा था। वास्तविकता यही है कि उनकी संख्या अत्यंत ही सीमित रही। अब ऐसी स्थिति में यह कहना ज्यादा तर्कसंगत लगता है कि अभी भी लोहे का प्रयोग हस्तशिल्प या कृषिकार्य के निमित्त बहुत ही कम हो रहा था। चित्रित घूसर भाण्ड के स्तरों से इस धातु के प्रायः जितने भी सामान मिले हैं उनमें प्रधानता बाणाग्र और भाले के अग्रभाग को छोड़ किसी और को नहीं दी जा सकती। सीमित संख्या में मिली लोहे की कीलें किसी व्यापक परिवर्तन का संकेत नहीं करती।<sup>13</sup> कृषि कार्य में जिसके द्वारा क्रांति का सूत्रपात हुआ वह लोहे का फाल उत्तर प्रदेश के एटा जिले के जखेड़ा नामक स्थान से अवशेषीकृत रूप में मिला है। इसकी तिथि 500 ई० पू० की अनुमानित है। वैदिक ग्रन्थों में मांस काटने के काम आने वाली लोहे की छड़ी (असि) और ढाल की चर्चा है। लोहे के बाणाग्रों के सम्बन्ध में ऐसी कोई सूचना नहीं है फिर भी वैदिक जनी का यह मुख्य हथियार था – यह मानने में किसी खास तरह का अवरोध नहीं है। दूसरे हथियार के रूप में बल्लभ (भाला) था जो लोहे के बने भाले के अग्रभाग से बहुत अलग नहीं कहा जा सकता। अबतक जितने तरह के साक्ष्य हैं उनसे यही संकेतित है कि छठी शताब्दी ई० पूर्व में उत्तर भारत का पूर्णतया प्रवेश लौह युग में नहीं हुआ था। निर्माण तकनीक के चरमोत्कर्ष का स्पर्श करने वाले उत्तरी काले पालिशदार बर्तन (एन० बी० पी०) के द्वितीय काल (500 ई० पू० से 200 ई० पू० तक) से जब लोहा सम्बद्ध हुआ तभी जाकर कृषि के उपकरणों में पहले की अपेक्षा कहीं ज्यादा वृद्धि देखी गयी।<sup>14</sup> इस धारणा में थोड़ा दम दीखता है कि लौह प्रौद्योगिकी की पहली अवस्था में सामान्य रूप से युद्धोपयोगी साजो-सामान के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ और कुछ अन्तराल के बाद दूसरी अवस्था में जाकर ही यह हस्त शिल्प या कृषि के लिए विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई। लगता यही है कि प्रथम काल में इसके उपयोग की रफ्तार धीमी रहने का मूल

कारण सहज रूप से उपलब्ध न होना और साथ ही इस तरह की प्रौद्योगिकी का आदिम अवस्था से गुजरना भी था। इससे भला कोई कैसे इकार कर सकता है कि उत्पादन का क्षेत्र आनुपातिक ढंग से जब बढ़ता है तभी जाकर प्रौद्योगिकी में भी निखार आया करता है। लौह प्रौद्योगिकी भी इसका अपवाद नहीं हो सकती। यह काल एक ऐसी सांस्कृतिक चहल-पहल का भी सूचक है जब जंगल को साफ करने, गाड़ियों तथा रथों के पहिये को बनाने एवं घरों के छाजन के काम आने वाली बांस की बल्लियों के टोक-टाक के लिए लोहे के कई उपकरण प्राथमिकता के आधार पर बनाये जाने लगे थे। चित्रित घूसर भाण्ड के स्तरों से मिलने वाली कीलें हमारी इसी धारणा की पोषक हैं।<sup>15</sup>

पुरातात्विक उत्खनन लगभग आधे दर्जन ऐसे स्थलों का पता देता है जहाँ कभी चित्रित घूसर भाण्ड वाली संस्कृति पनपी थी। यहीं से बाणाग्र और भाले के अग्रभाग वाला जखीरा भी प्राप्त हुआ है। ये अवशेष इसी तथ्य का संकेत हैं कि भौतिक जीवन के विकास में लौह प्रौद्योगिकी नित ही नया-नया कमाल दिखाती जा रही थी। गंगा-यमुना के दोआब दोत्र में मिल लोहे के हथियारों में विविधता बनी हुई है। यह स्पष्ट नहीं होता कि एक क्षेत्र की अपेक्षा किसी दूसरे क्षेत्र में लोहे के हथियार ज्यादा या कम क्यों वन रहे थे? पंचाल क्षेत्र में कभी आबाद हुए अतिरंजीखेड़ा के अवशेषों को देखने से यही लगता है कि यहाँ के लोग अपने ही समय के दूसरे लोगों से कहीं ज्यादा साधन सम्पन्न हुआ करते थे। लौह प्रौद्योगिकी के व्यापक प्रयोग को देखने से यह पता भी चल जाता है कि कुरु पांचाल जैसे राज्य ऐसे ही अपने व्यापक स्वरूप को प्राप्त नहीं कर बेटे थे। लोहे का प्रयोग कई स्तरों पर शुरू था। कहीं इसके वाणाग्र बनने लगे तो कहीं युद्धोपयोगी हथियार के रूप में नोकदार भाले तैयार हुए। दूसरी ओर अश्वचालित रथों के पहियों के निर्माण से साम्राज्य विस्तार की परिस्थितियाँ भी सामने आती हैं। हमें इसका विचार भी करना होगा कि कुरु पांचाल द्वारा शासित क्षेत्र में ही कभी चित्रित घूसर भाण्ड वाली संस्कृति पल्लवित हुई थी। लोहे के विविध उपकरण भी इन्हीं के स्तरों से प्राप्त हुए हैं।<sup>16</sup>

लौह आधारित दस्तकारी का काम करने वाले शिल्पी और कृषि के काम को पूरा करने वाले कृषक सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से पुरोहितों और योद्धाओं से अलग हो गये थे। मध्य गंगा का क्षेत्र भौगोलिक कारणों से सघन वनस्पति आच्छादित क्षेत्र कहा जाता था। कृषि के आरम्भ के पूर्व यह क्षेत्र कहीं कम तो कहीं ज्यादा हरी पट्टियों वाला था। यह कहने की बात नहीं कि जंगल की सफाई में कोई एक ही तरह का अवरोध नहीं था। वैसे भी देखें तो उत्तर प्रदेश की तुलना में बिहार कहीं ज्यादा वर्षा काल क्षेत्र है। यही- कारण है कि मिट्टी की ज्यादा नमी लौह उपकरणों के लिए अनुकूल नहीं पड़ती। मध्य गंगा के तटीय क्षेत्र के औपनिवेशीकरण का समर्थन न केवल शतपथ ब्राह्मण से बल्कि उस परिकल्पना से भी जिसके तहत चित्रित घूसरभाण्ड और उत्तरी काले पालिशदार जैसे भाण्डों का प्रयोग करने वालों ने एक अभिनव संस्कृति के विकास का मार्ग प्रशस्त किया था। डा० शर्मा ने यह निष्कर्ष स्थापित किया है कि बुद्ध के काल में एक पूर्ण विकसित कृषक समाज का उदय हुआ जिसे धर्मसूत्रों के आनुष्ठानिक सामाजिक वर्गों में विभाजन से स्थिरता प्राप्त हुई तथा 500-300 ई० पू० में बुद्ध की शिक्षाओं से स्थायित्व मिला था। मगध की भाषा में लिखे गये पालिग्रन्थ पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार के मैदानी क्षेत्रों में कुछ-कुछ अन्तराल से जिस तरह की प्रौद्योगिकी विकसित हुई थी उसके बारे में विस्तृत विवरण उपलब्ध कराते हैं। प्रायः इनके आधार पर मौर्य काल के पूर्व की भौतिक प्रगति को रेखांकित किया जा सकता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में धातुशिल्प के विकास से सम्बन्धित जितनी भी बातें हैं उनकी संगति पालिग्रन्थों में दिये गये विवरणों से बैठती है। बावजूद इसके पाणिनि ने जिस तरह की सूचनायें दी हैं उनका महत्त्व सिन्धु तथा गंगा के पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्र के भौतिक विकास को

लेकर कहीं ज्यादा दीखता है। सूत्र साहित्य में भी भौतिक विकास का जहाँ जैसा चित्रण है उसे निरी कल्पना का नाम नहीं दिया जा सकता। ये सारी परिस्थितियाँ मौर्य पूर्व काल की हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में समस्त उत्तर भारत के प्रौद्योगिकी विकास का चित्रण है जबकि पालिग्रन्थों में पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के मैदानी क्षेत्र में होनेवाली भौतिक प्रगति की ही विशेष रूप से चर्चा है। हमारे लिए यह अच्छी बात है कि बुद्ध के जीवन से सम्बद्ध शिक्षा में शिल्प, कृषि, और पशुपालन का क्रमबद्ध सिलसिला देखने को मिलता है।

बुद्ध के काल में जिस तरह का भौतिक विकास हुआ था उसकी जानकारी हमें पिछले तीन दशकों से उत्तरी काले पालीशदार मृदभाण्डों के पुरातात्विक अन्वेषण के फलस्वरूप कुछ और ही ज्यादा हुई है। यह भाण्ड जैसा कि साक्ष्य प्रमाणित करते हैं कि दो उपकालों में विभाजित:— लगभग 600 ई० पू० से 300 ई० पू० और 300 ई० पू० से 100 ई० पू० तक। कार्बन 14 की कालनिर्धारण पद्धति के विकसित होने के पूर्वतक इस मृदभाण्ड को सामान्यतया 600 ई० पू०-200 ई० पू० के कोष्ठक में रखा जाता था। अब तो एक से अधिक कार्बन तिथियाँ घोषित हैं इसीलिए इस मृदभाण्ड के लिए 500-50 ई० पू० के कोष्ठक की अनुशंसा की गयी है।

उत्तरी काले पालिशदार (एन० बी० पी००) मृदभाण्ड के द्वितीय उपकाल अर्थात् 300 ई० पू० में बहुतेरी भौतिक प्रगति का द्वार खुला हुआ था। यह बात साफ है कि लोहे के उपकरण इसी काल में ज्यादा बनने शुरू हुए थे, प्रथम उपकाल में ऐसी स्थिति नहीं थी। यह समझने की बात है कि मध्य गंगा का तटवर्ती क्षेत्र अधिक वर्षा ग्रहण वाला क्षेत्र है अतः यहाँ क्षणभंगुर पदार्थों का जीवन बहुत लम्बा नहीं होता। आश्चर्यकारी प्रसंग यह भी है कि लोहे की खानें दक्षिण बिहार में ज्यादा होने के बावजूद इससे निर्मित उपकरण पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्र से कहीं ज्यादा मिला करते हैं। एक दूसरी समस्या पिटवा लोहे के बने उपकरणों के साथ लाग है जिन्हें हवा की नमी के कारण नष्ट हो ने में ज्यादा समय नहीं लगता। कोशाम्बी के उत्खनन से लोहे की जितनी वस्तुयें मिली हेवे कम से कम बिहार के तटवर्ती क्षेत्र की अपेक्षा तो निश्चय ही अच्छी हालत में हैं। हमें इस वास्तविकता को नजरअंदाज करके नहीं चलना है कि पुरातात्विक साक्ष्य सदा साहित्यिक साक्ष्य के प्रकट नहीं हो सकते। इन दोनों के आधार पर ठोस निष्कर्ष भी प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। अब ऐसी स्थिति में हमें और भी हि : सावधान होकर प्राप्त सामग्रियों का विवेचन करना चाहिये।

कौशल और मगध के लोगों के भौतिक विकास में लोहे के कई उपकरणों की भूमिका कुछ अर्थों में निश्चय ही निर्णायक रही। समसामयिक स्त्रोतों में जिस तरह का विकास लक्षित होता है उसके मूल में शिल्पियों के योगदान का ही असर दीख पड़ता है। जिसे हम द्वितीय नगरीकरण का नाम देते हैं वह भी इसी समस्या से जुड़ा है। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म के सामाजिक दृष्टिकोण की व्याख्या लोहे के फाल वाले हल पर आधारित कृषि की आवश्यकताओं एवं ऋण देने व नगरीकरण से उत्पन्न समस्याओं के संदर्भ में भी की जाती है। इन सबसे अलग कुछ दूसरे तरह के प्रश्न भी विचारणीय हैं। बुद्ध के काल में पूर्वी उत्तरप्रदेश और बिहार में लौह निर्मित वस्तुओं के प्रयोग को लेकर भी शंकायें बनी हुई हैं। यह कहा जाता रहा है कि आग लगा कर जंगल साफ किये जाते थे। परन्तु पेड़ों के जलने के बाद भी उनके तने और दूठ को साफ करने की समस्या उठ खड़ी होती थी। मध्य गंगा के तटीय क्षेत्रों की जैसी भूसंरचना है उसमें वृक्ष अपनी जड़ों को फैलाकर बड़े होते थे और जबतक उन्हें कुल्हाड़ी या फाबड़ा से साफ नहीं किया जाता तबतक उस पर हल चलाना कठिन था। यह कहना भी लीक से हटकर नहीं है कि इस पूरे क्षेत्र में उत्तरी काले पालिशदार मृदभाण्ड का प्रयोग करने वाले लोगों की बस्तियों का घनत्व सबसे ज्यादा था। इसकी संभावना भी है कि

जंगलों की सफाई के काम के लिए पत्थर के उपकरण भी काम के सिद्ध हुए होंगे। यह तर्क देना भी अनर्गल नहीं कि खेत की जुताई के काम में लकड़ी के फाल वाले हल भी प्रयोग से बाहर नहीं किये गये होंगे। उत्तर वैदिक काल के दौरान गंगा के उच्चतटवर्ती क्षेत्रों में ऐसे ही हलों का प्रयोग हो रहा था। भारत के ऐसे भूक्षेत्र जहाँ की मिट्टी कठोर नहीं है— ऐसे ही हलों का प्रयोग होतु हुए आज भी देखा जा सकता है। परन्तु जहाँ की मिट्टी कठोर है अर्थात् जलोढ़ क्षेत्र में जुताई का काम लोहे के फाल लगे हल के बिना तो नहीं हो सकता। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार की रेतीली मिट्टी के कृषि कार्य के लिए लकड़ी के फाल लगे हल उपयोगी हो सकते थे। प्राचीन नगरों की खुदाई से कुदाल के अश भी मिले हैं जो कदाचित इस धारणा के पोषक हैं कि कुदाल आधारित जुताई द्वारा भी कृषि को विस्तार देने की बात सोची गयी थी। परन्तु इस तरह का अनुमान ठोस साक्ष्यों पर आधारित नहीं है। यह संभावना है कि कुदाल बतौर घरेलू उपकरण इस्तेमाल में लाया जा रहा था।

### निष्कर्ष

कृषि कार्य में लोहे का प्रयोग कहीं भी अचानक नहीं बढ़ा है। परन्तु कृषि का अवलम्बन यही दर्शाता है कि स्थिर जीवन का आरम्भ हो चुका था उत्तर वैदिक काल में अनुष्ठान की बहुविध क्रियाये पूरी हो रहीं थी और इनके मूल में कृषि की ही भूमिका सामने आयी। यद्यपि अधिशेष तो कोई खास नहीं बढ़ा था पर यह अनुष्ठानों की पूर्ति के लिए कम देने से कृषि अधिशेष को क्षति पहुँचनी शुरू हो गयी थी। यह ज्यादा संभव है कि लोहे की पूर्व परम्पराओं के बने रहने के कारण इस तरह के प्रतिबन्ध विशेष रूप से कारगर सिद्ध हुए थे।

### संदर्भ

1. शर्मा, आर० एस०, 1976, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, अध्याय पांच, पृ. 112
2. वही, पृ. 128
3. इण्डिया आर्कियोलॉजी रिव्यू, 1959, पृ. 71
4. टंडन, ओ० पी० 1968, आलमगीरपुर एण्ड दि आयरन एज इन इण्डिया, पुरातत्व न०-01, पृ. 59
5. होजेज, हेनरी, 1971, टेक्नोलॉजी इन दि एंशयेंट वर्ल्ड, हारमोडोवर्थ, पृ० 124
6. शर्मा, आर० एस०, 1976, पूर्वोक्त, पृ० 114 &